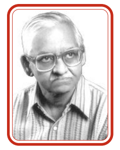

(1936-2009)

ध्यान पत्रिका

संस्थापक : डॉ० शम्भू नाथ

M.Sc., Ph.D.

वर्ष-28 सितम्बर-2018 अंक-9

ध्यान शिविर में आप सपरिवार सादर आमन्त्रित हैं।

दि० 15, 16 व 17 सितम्बर, 2018 (शनिवार, रविवार व सोमवार)

पंजाबी धर्मशाला, राजगुरु मार्केट, (आर्य बाजार) हिसार

जैसी भावना होती है – वैसा ही फल मिलता है;

जहां तक मन और बुद्धि नहीं पहुंच सकते-

प्रभु की बादशाहत, वहां पर भी है।

इस 'ओत प्रोत परमसत्ता' का आदि, मध्य और अंत नहीं है-

यह हर हाल में और हर काल में, ज्यों की त्यों तटस्थ रहती है।

–स्वामी ज्ञाननाथ (नारायणगढ़)

प्रकाशक

ध्यान सत्संग सभा

पंजीकरण संख्या : 280/2013

हिसार (हरियाणा), मो. : 09416164702, 09416041346

Facebook : dhyansatsangsabha@gmail.com

Website : chetna-vigyan.in

प्रभु नाम का इक जाम पीकर–मस्तियां, तुम देखा करो

✍ श्री रमेश अरोड़ा (मो० 9255640384)

सब के गुण और अपनी गल्तियां-तुम, हमेशा देखा करो।
जिन्दगी की हैं कई झलकियां-तुम, अन्दर झांका करो॥
हसरतें, महलों की गर-तुम को सताएं आन कर?
कुछ गरीबों की हैं बस्तियां-तुम, जाके उनके देखा करो॥
खाने से पहले, अगर तुम-हक पराया देख लो?
कितने भूखों की हैं, इनमें रोटियां? जाके तुम देखा करो॥
गर सिकन्दर का गरूर, तुम को सताए-आन कर?
हाथ खाली ले जाते, तुम अर्थियां-उनकी देखा करो॥
यह जवानी का नशा, हर क्षण-ना रह पायेगा।
जल चुके हैं, जो शव-उनकी अस्थियां, तुम देखा करो॥
विशियों को विष मान कर, हर दम-नशे में ना चूर हो।
प्रभु नाम का इक जाम पीकर-मस्तियां, तुम देखा करो॥

अग्रलेख

भावातीत ध्यान (Transcendental Meditation) के बारे में डॉ. शम्भूनाथ की ध्यान पत्रिकाओं, पुस्तकों और वीडियो द्वारा आध्यात्मिक निष्कर्ष; गूगल की वेबसाईट (chetna-vigyan.in) पर उपलब्ध है। –सम्पादक

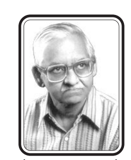

(1936-2009)

चेतना–विज्ञान

(Science of Consciousness)

✍ डॉ० शम्भूनाथ

जीवन तो मात्र स्थूल शरीर, विचारों और क्रियाओं द्वारा बन्धा हुआ है।

जिस प्रकार पेड़ की जड़ें-जमीन, खाद और पानी से जीव रस (Sap) लेकर पेड़ के हर अंग को हरा भरा करने में सक्षम हैं;

उसी प्रकार से हमारा मन-अद्वैत जगत में विचरण के अभ्यास (Meditation) द्वारा, अत्यंत सूक्ष्म ऊर्जा को अपने में पिरोकर-

- **उस जीवनी शक्ति द्वारा बुद्धि को-**
- **स्नायु संस्थान द्वारा शरीर को,**
- **और स्थूल संसार में भ्रमण द्वारा क्रिया जगत को-**

वर्गीकृत करने में सक्षम है। यह 'भावातीत ध्यान' के माध्यम से प्रकाशित आन्नद से ओत प्रोत मन, इस जीवन को पूर्णत्या सन्तुष्टि देकर समस्त क्रियाओं को सफल बनाता है। अत: ऐसा सार युक्त चैतन्य (conscious) मन ही इस जीवात्मा के उत्थान द्वारा समन्वित विकास की कुंजी है।

कर्म

संत तुलसीदास ने कहा है-

कर्म प्रधान विस्व करि राखा।

जो जस करि सो तस फल चाखा॥

विश्व का अर्थ है-पूर्ण 'विश्व ब्रह्माण्ड'। 'विश्व ब्रह्माण्ड'-मन के विचरण का क्षेत्र है; अर्थात् 'विश्व ब्रह्माण्ड' में एक बिन्दु भी ऐसा नहीं है-जहाँ मन नहीं पहुंच सकता।

कर्म का अर्थ है-गतिशीलता या क्रिया।

मन, बुद्धि और सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा क्रियाएं सूक्ष्म जगत में होती हैं-यद्यपि सूक्ष्म इन्द्रियां, शारीरिक स्तर की इन्द्रियों को क्रियाशील-स्थूल जगत में करती हैं।

मन और बुद्धि की क्रियाशीलता, इन्द्रियां महसूस नहीं कर सकतीं।

स्थूल इन्द्रियों की क्रिया-इन्द्रियों द्वारा मन, महसूस करता है-लेकिन स्वयं इन्द्रियों, 'आन्तरिक जगत की अपनी क्रियाशीलता' को महसूस नहीं कर सकतीं। कर्म प्रधान का अर्थ है-कि बिना कर्म के कुछ भी सम्भव नहीं है।

कर्म क्यों अति आवश्यक है? उत्तर यह है कि मात्र कर्म द्वारा, विश्व ब्रह्माण्ड

के अलग अलग भागों में जागृति पैदा होती है-जिसके द्वारा जहां कर्म होता है, उसमें उसी क्षेत्र की जागृति उत्पन्न हो जायेगी।

समाज का एक साधारण मनुष्य, केवल मनुष्य द्वारा किये हुए कर्मों तक ही अपनी सोच को सीमित रखता है-यद्यपि सत्य है कि; ब्रह्माण्ड के हर कण द्वारा कर्म होता है। मात्र यह कर्म ही बदलने वाले जगत के हर कण में बदलाव लाता है-चाहे वह बदलने वाला जगत, इन्द्रिय जगत का हो-या इन्द्रियों से परे जगत का हो।

दोनों ही जगत में निरन्तर बदलाव, संत तुलसीदास के उपरोक्त चौपाई की सत्यता को प्रमाणित करते हैं। 'विश्व ब्रह्माण्ड' में मात्र प्राणियों को कर्म करने की कुछ स्वतंत्रता है-वनस्पति जगत, निर्जीव वस्तुएं या प्रकृति की बड़ी-से-बड़ी शक्ति को कर्म की स्वतंत्रता नहीं है। ये सभी अपने अपने कर्मों में निरन्तर 'कर्म बन्धन के साथ' व्यस्त हैं। मात्र प्राणियों को कुछ स्वतंत्रता है; लेकिन प्राणियों में भी जितनी स्वतंत्रता मनुष्य को है-उतनी किसी दूसरी प्राणी को नहीं है।

इसलिए संत तुलसीदास की एक और चौपाई मिलती है -

'बड़े भाग मानुष तन पावा।

सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थहि गावा॥'

यदि हम अपना ध्यान पुराण के इतिहास की ओर ले जायं और फिर आज के समाज के; विशेष तौर पर समाज के दु:खी मनुष्यों की ओर ले जांय-तो हमें यह अनुभूति होती है कि; अधिकतर मनुष्य अपने कर्मों में स्वतन्त्र तो हैं-लेकिन अपने कर्मों द्वारा, 'कर्म ध्येय' को प्राप्त करने में असमर्थ हैं। यह भी देखने को मिलता है कि अधिकतर मनुष्य, करना कुछ चाहते हैं लेकिन उन्हें करना कुछ और ही पड़ता है। यहां पर संत तुलसीदास की उपरोक्त चौपाई की सत्यता ढूंढ़ने से भी नहीं मिलती। हमें इसका कारण ढूंढ़ना है-

मनुष्य के पास तीन तरह के कर्म करने की शक्ति है। ये कर्म, मात्र मन को करने हैं-बुद्धि और दस इन्द्रियां, सहायक के रूप में कर्म करने के लिए, मन को प्राप्त हैं।

(1) कभी मन, बुद्धि और इन्द्रियों के साथ कर्म करता है,

(2) बहुधा मन, मात्र बुद्धि के साथ कर्म करता है और

(3) पराजगत के सारे कर्म, मन स्वयं करता है। परा का अर्थ - बुद्धि और इन्द्रियों से परे। अत: इस क्षेत्र में बुद्धि और इन्द्रियों की सहायता, मन ले ही नहीं सकता।

पहले तरह का कर्म-मन, इन्द्रिय जगत के अलग अलग विषयों की जागृति उत्पन्न करके विषयों का ज्ञान लेने हेतु करता है। यह विश्व ब्रह्माण्ड दो भागों में बांटा जा सकता है-(1) इन्द्रिय और बुद्धि का जगत तथा (2) इन्द्रिय और बुद्धि से परे का जगत। सब कुछ मात्र, एक ईश्वर द्वारा है-जो अनन्त है। अत: उसके संसार में, सब कुछ अनन्त है। यही कारण है कि बुद्धि और इन्द्रियों का जगत, अनन्त विषयों से भरा हुआ है। ये अनन्त विषय सीमाओं में बंधे हैं। जो व्यक्ति, पहली तरह के कर्म के माध्यम से अलग अलग विषयों की चेतना उत्पन्न करके-अलग अलग विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है-वह सीमित क्षेत्रों के ज्ञान के दलदल में फंस जाता है और यही 'मायावी जीवन' है। कलियुग के अधिकतर मनुष्य, इस 'मायावी जीवन' से ऊपर उठने में असमर्थ हैं।

उदाहरण : मान लें कि एक कमरे में तीन व्यक्ति हैं - एक खाना बना रहा है, दूसरा टेलीविजन देख रहा है और तीसरा किसी किताब का अध्ययन कर रहा है। कर्म, जिस क्षेत्र में होगा और जिस व्यक्ति के द्वारा होगा-वह व्यक्ति, मात्र उस क्षेत्र की चेतना उभार लेगा। अत: जिस समय जो व्यक्ति, जिस क्षेत्र में कर्म करता होगा-उस समय, वह केवल उसी क्षेत्र में जाग रहा होगा और जिस क्षेत्र में जाग रहा होगा-उस समय, केवल उसी क्षेत्र का ज्ञान उसे प्राप्त होगा। इसे हम ऐसे भी कह सकते हैं कि; जिस समय जिस चीज का ज्ञान होता है-वह केवल उसी में जागता है। ऊपर के उदाहरण में

(1) जो व्यक्ति खाना बना रहा है, उसी को यह ज्ञान है कि अभी खाना बनने में कितना समय और लगेगा, क्योंकि खाना बनाने के क्षेत्र में वह जाग रहा है।

(2) इसी प्रकार से टेलीविजन देखने वाला, टेलीविजन में होती हुई क्रियाओं को देख रहा है-अर्थात् उन क्रियाओं से सम्बन्धित ज्ञान केवल उसी को है, वह केवल

उन क्रियाओं में ही जाग रहा है। यदि टेलीविजन में क्रिकेट मैच आ रहा है-तो कितने रन बन चुके हैं या कितने विकेट गिर चुके हैं? यह ज्ञान-केवल उसे ही हो सकता है, जो उस मैच की क्रियाओं में जाग रहा हो।

(3) इसी प्रकार से किसी पुस्तक का अध्ययन करने वाला, केवल अपनी पुस्तक के अध्ययन में जाग रहा है।

अब यह बात बहुत अच्छी तरह समझ में आ जानी चाहिये कि

'कर्म के माध्यम' से मनुष्य का मन, सीमाओं में रहने लग जाता है-

> **यद्यपि यह सत्य है कि मन, असीम का अंश है और सीमाओं के बंधन में रहकर- सीमाओं के क्षेत्र के सुख से उसकी 'सुख की भूख' नहीं मिट सकती।**

इसीलिए कहा जाता है कि 'इन्द्रिय जगत', मायावी जगत है। इसका अर्थ यह है कि; यदि निद्रा या स्वप्न की अवस्था के पश्चात्-जब तक हम जागृत अवस्था में रहे, मात्र 'इन्द्रिय क्षेत्र' में कर्म करते रहे, तो हमारे जीवन का सुख निरन्तर कम होता ही जाएगा-कभी भी बढ़ नहीं पायेगा। मात्र ऐसे कर्मों से जीवन में 'कभी सुख बढ़ेगा'-यही उसकी गलतफहमी (Ignorance) है और जीवन की गलतफहमी को माया (Illusion) कहते हैं।

इन्द्रिय क्षेत्र में समाज के पास कुछ विषयों का ज्ञान होता है-और कुछ विषयों के ज्ञान की वह खोज करना चाहता है। खोज करने के लिए, वह कौन से कर्म करे-यह जानने के लिए वह, बहुधा मन और बुद्धि के माध्यम से मनन की अवस्था में रहता है। समाज के बड़े बड़े वैज्ञानिक, ऐसे कर्मों द्वारा ही-समाज में यश प्राप्त करते हैं। खोज, हर क्षेत्र में होती है-चाहे वह विज्ञान का क्षेत्र है-कला का क्षेत्र हो-या कोई दूसरे विशेष क्षेत्र का ज्ञान हो।

अब लेखक, 'पराजगत के कर्मों' के विषय को समझायेगा-ये कर्म, मात्र पराजगत में होते हैं। समझने के लिए एक उदाहरण लेते हैं - हर व्यक्ति नित्य रात्रि में निद्रा की अवस्था में रहता है। निद्रा के समय, स्वयं उसे नहीं पता कि वह निद्रा में है। स्वप्न की अवस्था में भी उसे नहीं पता कि वह स्वप्न की अवस्था में

है। हम इस बात से भी परिचित हैं कि निद्रा और स्वप्न की अवस्था में हमारी बुद्धि, क्रियाशील नहीं रहती-इसका परिचय हमें उल्टे सीधे और बेवकूफी के स्वप्न देते हैं। अत: यह प्रमाणित है कि; सोते और स्वप्न के समय-मात्र मन क्रियाशील है।

कर्म का ध्येय, जागृति पैदा करना है।

अब हम सोचें कि निद्रा और स्वप्न के समय, जो कर्म हो रहे हैं-वे हमें किस क्षेत्र में जगाते हैं और किस क्षेत्र का ज्ञान देते हैं? लेखक बताना चाहेगा कि निद्रा और स्वप्न के समय मन, 'अपने में' कर्म कर रहा है-इसलिए वह केवल 'अपने में' जागता है। यदि वह निद्रा और स्वप्न की अवस्था में कर्म कर रहा है-तो उसे निद्रा और स्वप्न की अवस्था में हुए कर्म, ये ज्ञान देगें कि-वह सो गया था, या स्वप्न देख रहा था। हमारी निद्रा, सोते सोते अपने आप टूट जाती है और हम जाग जाते हैं। जगते ही हमें यह ज्ञान हो जाता है कि; हम तो सो गये थे और अब जाग गये हैं। यदि निद्रा, स्वप्न के साथ टूटती है-तो यह ज्ञान भी रहता है कि; हमने स्वप्न देखा था। प्रश्न उठता है कि; हमें किसने बताया? बताने वाला, मात्र ज्ञान होता है और यह ज्ञान, उस जागृति में पैदा होता है-जो उन कर्मों के माध्यम से उत्पन्न हुआ और जो कर्म-मन के द्वारा, निद्रा या स्वप्न के समय हो रहे थे।

हमने ऊपर इन्द्रियों के अलग अलग विषयों में जागने का अर्थ समझा और 'अपने में जागने' का अर्थ भी समझा। यहां लेखक विस्तार से यह समझाना चाहेगा-कि 'अपना' क्या होता है और क्या 'अपना' नहीं है? इसे अच्छी तरह समझने के बाद ही साधक, 'अपने में जागने' को अच्छी तरह समझ पायेगा-'अपना', वह होता है-जो दूसरे का, हो ही नहीं सकता। उसकी चोरी, हो ही नहीं सकती।

उदाहरण - एक व्यक्ति अपनी लड़की को अपनी पुत्री कहता है। जब वह लड़की युवा अवस्था को प्राप्त करती है, उसका विवाह हो जाता है। विवाह होते ही, पति का अधिकार उसकी पुत्री पर उसके पिता से बढ़ जाता है। जिसके कुटुम्ब में विवाह होता है-उस कुटुम्ब के सभी सदस्य उस लड़की पर 'अपना अधिकार' अधिक मानते हैं। यह समाज-सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग-सभी

युगों में रहा है-इसीलिए सन्तों ने सामाजिक रिश्तों को हमेशा मायावी बन्धन (Illusion) माना और इन्हें हमेशा दु:ख का कारण माना है।

बाहर की वस्तुएं-जैसे मकान, रुपया, सवारी इत्यादि तो कोई भी चोर या डाकू कभी भी चुरा या छीन सकता है; इसलिए इन्हें अपना कहना ही घोर असत्य है। जब तक जीवन है-हमारा मन भी किसी और का हो जायेगा, पर हमारे मन में उठते हुए विचार-किसी और के होंगे, या हमारे शरीर में क्रियाशील अनन्त यंत्र-किसी और के हो जायेंगे; ऐसा सम्भव नहीं है। इसीलिए इन क्षेत्रों में जब मन, क्रियाशील होता है-तब मनुष्य 'अपने में जागता' है। अपने को जगाने वाले कर्मों के माध्यम से जागने की विद्या-सत्युग में प्रचलित थी, लेकिन कलियुग में इस विद्या का लोप हो चुका है।

इसीलिए आज के समाज में हजार या लाख में से एक व्यक्ति भी 'अपने में जागने' का अर्थ नहीं समझता।

समाज के आध्यात्मिक शिक्षक, गुरुओं के मुख से सुनकर या किसी आध्यात्मिक पुस्तक में पढ़कर; समाज के व्यक्तियों को बताते हैं कि हमें केवल 'अपने को जानना' है। जब हम, 'अपने को जान लेंगे'-तब कुछ भी जानने को नहीं बचेगा। यह सत्य है कि समाज में ऐसे बहुत कम व्यक्ति मिलेंगे-जिन्होंने किसी के मुखारविन्द से उपरोक्त वाक्य कहते हुए नहीं सुना, लेकिन यह भी सत्य है-कि 'अपने को जानने' का रास्ता बताते हुए भी, किसी को नहीं सुना।

विद्या का एक नियम है-जब तक विद्यार्थी 'कक्षा-1' में उत्तीर्ण नहीं होता, वह 'कक्षा-2' में प्रवेश पा ही नहीं सकता। मनुष्य नित्य सोता है-और सोते समय वह जागृति की 'कक्षा-1' की अवस्था में रहता है। सोते समय मन द्वारा, जो कर्म होते हैं-वे उसे स्वप्न की अवस्था में ले जाते हैं, अर्थात् वह अपनी जाग की 'दूसरी कक्षा' में पहुंच जाता है। स्वप्न देखते देखते निद्रा टूट जाती है और उसकी बुद्धि व इन्द्रियां क्रियाशील होने की अवस्था में रहती हैं-इस तरह से वह अपनी जाग की 'तीसरी अवस्था' में प्रवेश पा जाता है।

'तीसरी अवस्था' में प्रवेश पाते ही, अधिकतर मनुष्य-'अपने को जागने' की

बजाय, इन्द्रिय क्षेत्रों के किसी-न-किसी विषय में जागना शुरू कर देते हैं- जैसे समाचार पत्र पढ़ने, या 'बेड टी' पीने या नित्य कर्मों या अपने बच्चों को 'पढ़ाने में जागना', इत्यादि।

इन्द्रिय जगत के किसी भी क्षेत्र में जागने का फल-थकावट है।

कहने का अर्थ है कि थकावट अन्दर भरती है, लेकिन इसके विपरीत-'अपने में जागने' से पहले की भरी हुई थकावट सोते समय निकलती है-

अर्थात्'अपने में जागना'-आराम है।

और 'इन्द्रियों के क्षेत्र' के विषयों में जागना-अपने में सोना है।

अब साधकगण आसानी से समझ लेंगे कि हमारे समाज के व्यक्तियों की दिनचर्या तो ऐसी है कि 'अपनी जाग की तीसरी अवस्था' में पहुंचते ही वे 'मायावी दलदल' में फंस कर, धीरे धीरे अपनी 'जाग की पहली अवस्था' की ओर बढ़ने लगते हैं और रात्रि होते होते-वे घोर निद्रा में पहुंच जाते हैं।

इसका निष्कर्ष यह है कि आज के समाज की दिनचर्या, ऐसी है कि हम अपनी 'जाग की चौथी अवस्था' में कभी पहुंचते ही नहीं और पूरा जीवन व्यर्थ में बीत जाता है। जो 'अपने में नहीं जागेगा' (चूंकि यह संसार बदलने वाला है, बदलाव रुक नहीं सकते)-अत: 'न जागने वाले को', सोना पड़ेगा।

जाग की अवस्था ही, जीवन के सुख की अवस्था है।

मनुष्य की जैसी जाग होगी-जीवन में वैसे ही सुख होंगे। तीसरी से 'चौथी जाग' की ओर बढ़ने वाले, आयु बढ़ने के साथ साथ पहले से ज्यादा सुखी रहेंगे-

अर्थात् ऐसे व्यक्तियों के जीवनकाल में बुढ़ापा,

उनके बचपने से भी ज्यादा सुखदायी हो सकता है।

लेकिन जो व्यक्ति प्रात: उठते ही; और Extra ऊँची जाग प्राप्त करने हेतु-पहली तरह के कर्मों को समय न देकर, विषयों के क्षेत्र में व्यस्त हो जाते हैं-उनके जीवन काल में बचपन ही सबसे अच्छा होगा और धीरे धीरे वे तरह तरह की बीमारी, शारीरिक कष्ट और चिन्ताओं (Depression) को प्राप्त होंगे, या यह कहें कि

बुढ़ापा-सबसे खराब बीतेगा।

जो साधक, लेखक के साथ दस पन्द्रह साल से ध्यान कर रहे हैं-वे यह समझने योग्य हैं कि 'जाग की तीसरी अवस्था' में पहले तरह का कर्म ही 'ध्यान' है और; यही 'ध्यान', मैं लगभग पन्द्रह वर्षों से अपने साधकों को सिखाता चला आ रहा हूं। शिक्षक का काम, विद्या देना है और यह 'ब्रह्म विद्या' लेखक, पन्द्रह साल से समाज में ज्यादा से ज्यादा व्यक्तियों को देने का प्रयत्न करता आ रहा है। अभ्यास (Meditation) करके कौन साधक, 'अपने को जगाने' में कहां तक सफल होगा-यह उसकी अपनी बात है।

उदाहरण - समाज के अधिकतर व्यक्ति मोटर साइकिल चलाना तो जानते हैं। सिखाने वाला मोटर साइकिल चलाना सिखा देता है। लेकिन सीखने वाला, केवल भीड़ में चलाने लायक होगा-या मोटर साइकिल चलाते चलाते ही अपना भोजन भी ले लेगा-या निद्रा भी पूर्ण कर लेगा-या मौत के कुंए में मोटर साइकिल चलायेगा-यह उसके अपने अभ्यास की बात होगी। इसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि; सिखाने वाले ने उसे ठीक सिखाया या गलत सिखाया ?

हमने ऊपर देखा कि बुद्धि और इन्द्रियों की बिना सहायता लिए 'मन का विचरण' ही, ब्रह्म की दुनियां में मन का विचरण है-और इसका नाम 'ध्यान' है। इस क्षेत्र में 'करनी' नहीं है। अत: इस क्षेत्र में 'होने के माध्यम से मन लग जाना', इस क्षेत्र का 'ध्यान' है। यह 'होने का क्षेत्र' है-अत: यहां पर मन, 'करनी' के माध्यम से नहीं पहुंचता।

मन, इन्द्रियों और बुद्धि के क्षेत्र से फिसल कर-पराजगत में चला जाता है।

हमने अच्छी तरह समझ लिया कि 'अपने को जानने' के लिए, हमें अपनी 'उच्च जाग की अवस्था' को प्राप्त होना होगा। यह किन कर्मों के माध्यम से होगा-यह भी हम अच्छी तरह से समझ चुके हैं।

अब समाज का एक उदाहरण लेते हैं। लगभग पांच वर्ष का एक बच्चा, एक बार में केवल कुछ मिनट के लिए पढ़ता है-वह पढ़ता कम है और खेलता ज्यादा है। धीरे धीरे पढ़ाई और खेल, दोनों कर्मों में रहते रहते-पढ़ाई का समय बढ़ने

लगता है और खेल का समय कम हो जाता है। बिल्कुल इसी तरह से 'बिना तीसरे कर्मों' में आए, जीवन व्यतीत करना असम्भव है।

आध्यात्मिक शिक्षा हेतु केवल थोड़ा समय, पहले कर्म को दें-और फिर दूसरे या तीसरे तरह के कर्मों में रहें। ऐसा अभ्यास, करने से निश्चय ही एक समय आयेगा-जब मनुष्य पहले कर्मों में अधिक समय के लिए व्यस्त होने लगेगा और धीरे धीरे वह 'चौथी जाग' की ओर बढ़ने लगेगा। हम सब, इस बात से परिचित हैं कि हमारे अन्दर विचारों का एक समुद्र है; विचारों के इस समुद्र का ज्ञान-मात्र 'जाग की चौथी अवस्था' में है।

'चौथी अवस्था' की जाग या 'चौथी चेतना' ही 'आन्तरिक चेतना' है।

आध्यात्मिक शिक्षा की देन यह है कि; मनुष्य 'आन्तरिक चेतना' की अलग अलग अवस्थाओं को प्राप्त हो जाय। बाह्य चेतना, केवल 'तीसरी चेतना' तक सीमित है।

'चौथी चेतना' के बाद, जितनी चेतनाएं हैं-वे सब 'आन्तरिक' हैं।

सत्कर्म

जो जस करि, सो तस फल चाखा

संत तुलसीदास के उपरोक्त कथन की सत्यता समझते हुए हमने देखा कि मनुष्य के पास तीन तरह के कर्म करने की शक्ति है। जब मन, बुद्धि और इन्द्रियां-तीनों एक साथ कर्म करती हैं, तो मनुष्य विषयों के क्षेत्र की जागृति उत्पन्न करके-विषयों के क्षेत्र के ज्ञान के सहारे, जीवन व्यतीत करने लगता है-ऐसा जीवन मनुष्य की 'जीवात्मा का उत्थान' करने में असमर्थ है; इसीलिए ऐसे जीवन को मायावी जीवन कहते हैं।

हमने यह भी समझा कि पराजगत में मन,
बिना बुद्धि ओर इन्द्रियों की सहायता के कर्मशील है।
यह कर्म ही, सत्य के क्षेत्र का कर्म है-अतः यही सत्कर्म है।

यह कर्म, हमारे पिछले कर्म बन्धनों से हमें मुक्त कराने की क्षमता रखता है। जो सत्कर्म के क्षेत्र की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं-वे इस क्षेत्र की शक्ति को इन्द्रियों के क्षेत्र में ला सकते हैं। 'सत्कर्मों में सिद्धि' प्राप्त करके मन, बुद्धि और इन्द्रियों की सहायता से इन्द्रियजगत में कर्म करे-तो 'मायावी जीवन' में कर्म करते हुए वह, माया के बन्धनों से प्रभावित नहीं होगा। यही 'कर्म कौशल' है। 'सत्कर्मों की सिद्धि', मनुष्य के अन्दर-इन्द्रिय से परे का सुख उत्पन्न करती है। जिसका मन, इस परासुख (Bliss) से, जितना ही प्रभावित हो जायेगा-वह उसी अनुपात में जीवन की कमियों से दूर हो जायेगा और मन, सन्तुष्टि को प्राप्त होगा-उसके अन्दर 'विशेष प्रेम का जागरण' होगा। ऐसे व्यक्तियों का मन, हर समय गीत गाने की अवस्था में है।

ये गीत, 'जीवन दर्शन' के रूप में हों और; वह इस 'जीवन दर्शन' को समाज में फैलाने की चेष्टा में, अपना बाकी जीवन व्यतीत कर दे- या वह अपने गीत या भजन के रूप में अपने 'जीवन का दर्शन' समाज के अधिकतर लोगों में प्रचलित कर सके। अब साधकगण आसानी से समझ सकते हैं कि 'कृष्ण की गीता' क्या है - या चैतन्य महाप्रभु, कबीर, कालिदास और मीराबाई के 'भजन' का वास्तविक जीवन में क्या महत्व है? ये समाज के कुछ सिद्ध पुरुष थे-जिनके 'जीवन का दर्शन', गद्य के रूप में प्रचलित न होकर 'पद्य के रूप में' प्रचलित हुए। इस तरह से इन सिद्ध पुरुषों ने 'अमूल्य ब्रह्मज्ञान' को समाज के समक्ष रखने में अपना योगदान दिया और यह उनके 'तीसरे तरह के कर्मों' द्वारा हुआ है।

धर्म

समाज-धर्म की इस परिभाषा से परिचित है कि; धारण करने योग्य कर्म ही धर्म हैं।

जो जस करि सो तस फल चाखा।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥

संत तुलसीदास द्वारा उपरोक्त कहावत की सत्यता, सत्कर्म के दर्शन द्वारा आसानी से समझ में आ जाती है। मनुष्य के पास तीन तरह के कर्मों की शक्ति है और इनमें से कोई भी कर्म, मनुष्य की देन नहीं है। तीनों कर्म, 'ब्रह्मा की देन' हैं - अत: तीनों कर्म, धारण करने योग्य हैं। बिना बुद्धि और इन्द्रियों के मन, पराजगत में कर्म करके-अपने आपको 'योग में स्थित' करे और फिर मन, बुद्धि और इन्द्रियों की मदद से कर्म करे-जिससे प्रत्येक व्यक्ति, अपने इन्द्रिय जगत को 'पराशक्ति से सुसज्जित' कर सके-ऐसे कर्मों में व्यस्त व्यक्ति, अपने पिछले सारे पापों को काटने में समर्थ होगा। लेकिन जो श्रीकृष्ण द्वारा (2.50 में) दर्शाये उपरोक्त 'कर्म कौशल' के आधार पर, कर्म नहीं करेगा-वह निश्चित रूप से अपने जीवन में पतन की ओर अग्रसर होगा।।

बिना योग में स्थित हुए-अर्थात्, मात्र 'चेतना की तीसरी अवस्था' में जो भी मन; बुद्धि और इन्द्रियों की सहायता से होने वाले कर्मों में व्यस्त रहेगा-वह श्रीकृष्ण भगवान द्वारा दर्शाये हुए 'कर्म सिद्धान्त' के आधार पर अधर्मी होगा। हम अच्छी तरह से जानते है कि जीत, हमेशा सत्कर्मों की होती है-दूसरे शब्दों में धर्म की होती है, अधर्म की नहीं होती। अधर्म के कर्म, जीवन के पिछले धर्म पर आधारित कर्मों के फल को भी निष्फल कर देते हैं।

सत्कर्म में पराजगत का ज्ञान है।

ऊपर बताये हुए सत्कर्म को न अपनाने के कारण कुछ मनुष्य, केवल इन्द्रिय जगत के कर्मों के माध्यम से-समाज में दर्शाये हुए अच्छे अच्छे कर्म तो करते हैं, लेकिन श्रीकृष्ण द्वारा दर्शाये हुए 'दर्शन शास्त्र' के आधार पर 'सत्कर्म' धारण नहीं करते हैं। वे गलत फहमी वश-या यह कहें कि मायावश जीवन के सुखों को ढूंढ़ते रहते हैं, लेकिन उन्हें जीवन के सुख मिलते नहीं हैं।

ऊपर बतायी हुई धर्म की परिभाषा आज, कलियुग में प्रचलित नहीं है। अधिकतर मनुष्यों के मन में एक प्रश्न उठता है कि; समाज में सत्कर्मों को बढ़ाने की शिक्षा देने वाली संस्थाएं तो बढ़ती ही जा रही हैं-अत: इनके बढ़ने के साथ साथ अच्छे कर्म वाले व्यक्ति भी समाज में अवश्य बढ़ रहे होंगे; फिर भी समाज-प्राकृतिक आपदाओं से दु:खी होता ही जा रहा है। जब उन्हें इस प्रश्न का उत्तर नहीं

मिलता कि; ऐसा क्यों होता है? तब वे दूसरा अर्थ निकाल लेते हैं-और वह यह कि; युग युग की बात है और कलियुग, एक ऐसा युग है-जिसमें अच्छे कर्म करने वालों को भी सुख नहीं मिलता। कभी मनुष्य, ऐसा भी कहता है कि ये सारे दु:ख देकर-प्रकृति कलियुग के व्यक्तियों की परीक्षा लेता है।

लेखक द्वारा बताये हुए धर्म और अधर्म की परिभाषा को ध्यान में रखकर साधकगण, समाज में होते हुए कर्मों की ओर अपनी दृष्टि ले जायें-तो उन्हें आसानी से समझ में आ जायेगा कि; आज के समाज में हजार में से एक व्यक्ति भी पराजगत के कर्मों में व्यस्त रहने के पश्चात्-इन्द्रिय जगत के कर्मों में प्रवेश करने का दर्शन, अपने जीवन में प्रयोग नहीं करता है-अत: वह धर्म की झोली में नहीं आता।

जिस युग में भी अधर्म करने वाले व्यक्ति बढ़ते ही जायेंगे,
उस युग में प्राकृतिक आपदायें आना स्वाभाविक है।

पृथ्वी पर न मालूम कितने देश हैं? हर देश में, देश अच्छी तरह से चलता रहे - इसके लिए उस देश का संविधान होता है। बिल्कुल इसी प्रकार से पृथ्वी पर सारे देश, और पृथ्वी पर रहने वाले व्यक्तियों की मदद करने वाली सारी प्राकृतिक शक्तियां-इन्द्रिय जगत की और पराजगत की शक्तियां, दूसरे शब्दों में 'समस्त विश्व ब्रह्माण्ड' सुचारु रूप से चलता रहे-उसके लिए प्रकृति में एक संविधान है-ये संविधान, प्रकृति के नियमों के रूप में जाने जाते हैं।

संत तुलसीदास ने यह बता कर कि; कर्म प्रधान विश्व करि राखा -

प्रकृति का एक बहुत महत्वपूर्ण विधान बताया कि; सृष्टि का एक कण भी कर्म से परे नहीं है।

जैसी जाग्रति-वैसा ज्ञान।

महाभारत के युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भी यही बताया कि; कर्म से पीछे हटना गलत है। कौन सा कर्म, अति आवश्यक है-यह समाज के बड़े बड़े संत, अलग अलग युगों में हमें बताते रहे। जब तक मनुष्य जीवित है, कोई कुछ जानने की कोशिश कर रहा है ओर कोई कुछ दूसरी बात जानने की कोशिश कर

रहा है। मनुष्य के सारे समाज में, एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलता–जो कुछ भी जानने की कोशिश नहीं कर रहा हे–अर्थात् मात्र ज्ञान ही मनुष्य का लक्ष्य है और 'अपना ज्ञान' से बड़ा कोई ज्ञान नहीं है। अपने को जानने के बाद, वह इन्द्रियों के विषयों के अलग अलग ज्ञान से मुक्त हो जायेगा और वह, अपने आप कुछ और जानने की कोशिश नहीं करेगा–अत: 'धारण करने योग्य' तो वह कर्म है–जो अपने को पूर्णरूप से जगा सके। इसीलिए लेखक, पूर्ण जाग को प्राप्त कराने वाले कर्म और इन कर्मों को धारण करने की बात–इस लेख द्वारा साधकों तक ले जाने का प्रयास कर रहा है।

वैदिक शिक्षा

'अपना ज्ञान' ही वेद है। वैदिक शिक्षा का अर्थ है–वह शिक्षा, जो मनुष्य को 'अपना ज्ञान' कराये–या वेद के ज्ञान की ओर अग्रसर करे। 'अपना ज्ञान', किस कर्म द्वारा होगा–यह हम ऊपर देख चुके हैं। हम यह भी समझ चुके हैं कि; 'अपना ज्ञान' कराने वाला कर्म, अपनी ऊँची–से–ऊँची जाग में करना है। ऊपर हम समझा चुके हैं कि; पराजगत का कर्म, सोने की अवस्था वाले व्यक्ति को स्वप्न की अवस्था में ले जाता है। स्वप्न की अवस्था वाले व्यक्ति को, इन्द्रिय और बुद्धि की जाग प्रदान करता है। इन्द्रिय और बुद्धि की पूर्ण जाग में, जब यही कर्म (ध्यान) किया जायेगा–तब 'आन्तरिक जाग' को प्राप्त होगा।

हमने यह भी देखा कि सबके अन्दर एक, विचारों का समुद्र है। यह सृष्टि अनन्त समुद्रों में बंटी है और हर समुद्र, प्रकृति की किसी–न–किसी शक्ति का भण्डार है। विचारों के समुद्र में ही, सृष्टि की समस्त इच्छाएं हैं। यही कारण है कि; विचारों के इस समुद्र की अलग अलग पर्तों में अलग अलग इच्छाओं की पूर्ति की शक्ति है। संत तुलसीदास ने इस सत्य को

''जो इच्छा करिहहु मन मांही। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥''

द्वारा दर्शाया–इसका अर्थ निकलता है कि; हर व्यक्ति के आन्तरिक जगत के विचारों के समुद्र में शक्तिशाली 'हरि का प्रसाद' है। इसका ज्ञान–अर्थात् इस ज्ञान को प्राप्त करने हेतु मनुष्य को इन विचारों के क्षेत्र में, सत्कर्म करना पड़ेगा। जो भी

इन कर्मों में नहीं आयेगा–उसके अन्दर समय बढ़ने के साथ साथ अपनी इच्छाओं को पूरा करने की क्षमता, अवश्य घटेगी।

यह प्रकृति का संविधान है कि; बिना इस कर्म की सहायता लिये–मनुष्य, जीवन की बड़ी बड़ी अभिलाषाओं को पूर्ण करने की क्षमता को प्राप्त नहीं हो सकता। समाज में अधिकतर 'आध्यात्मिक शिक्षक', जीवन के अलग अलग सुख को प्राप्त करने हेतु–अलग अलग साधनाएं बताते हैं। लेकिन उच्च स्तर के आध्यात्मिक व्यक्तियों का तो यही कहना है कि; मात्र 'अपने को जानने' के बाद, कुछ भी जानने को नहीं बचता–दूसरे शब्दों में इस साधना में बहुत ऊपर जाने की धारणा, जिन व्यक्तियों में है–वे कोई दूसरा साधन, आवश्यकता पड़ने पर सहायता के रूप में अपना सकते हैं–लेकिन साधना के रूप में, निरन्तर अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह दर्शन प्रचलित करने के लिए कहावत प्रचलित हुई–

'इक साधे सब सधत है, सब साधे सब जाय।'

कालचक्र में चार युगों का वर्णन आता है–सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। इन्द्रिय क्षेत्र में जो कुछ भी है, उसका विलोम अवश्य है। प्रयास, जीवन का एक महत्वपूर्ण सत्य है–अत: इसका विलोम प्रयासहीनता भी किसी–न–किसी अंश में हर युग में रहेगा। मनुष्य के जीवन का आधार मन है और हर व्यक्ति, अच्छी तरह से जानता है कि किसी का भी मन–प्रयासपूर्ण कर्मों की थकावट में कोई रुचि नहीं दिखाता।

यह भी सत्य है कि प्रयासहीनता, हर मन को रुचिकर है।

हम यह भी समझ चुके हैं कि पराजगत के कर्म में आन्तरिक प्रवेश, थकावट को निष्कासित करने की शक्ति तो है–लेकिन बढ़ाने की नहीं है। इसके विपरीत, इन्द्रिय जगत के कर्मों में मात्र प्रयासपूर्ण कर्मों द्वारा जीवन में सफलता ढूंढ़ने की बात–हमें यह बताती है कि 'आन्तरिक चेतना', प्रयासपूर्ण कर्मों की थकावट से ही इस प्रकार से ढक गई है–जिस प्रकार से प्रकृति का इतना विशाल सूर्य बादलों से ढक जाता है।

इससे हमें इस सत्य का ज्ञान होता है कि 'पूर्ण चतुर्थ चेतना' अलग अलग व्यक्तियों के जीवन के, न मालूम कितने वर्षो या जन्मों के कर्मों की थकावट से ढकी है - अत: इस थकावट को मात्र कुछ दिनों के थोड़े समय के कर्मों से निष्कासित करना तो असंभव होगा; हर व्यक्ति को इस कर्म में बड़े धैर्य से आने की आवश्यकता है। आन्तरिक जगत में समायी हुई थकावट की अवस्था, हर व्यक्ति की अलग अलग होती है। भूतकाल का ज्ञान, न होने के कारण-यह बताना दुर्लभ है कि किसे कितनी जल्दी सफलता मिलेगी, लेकिन यह निश्चित है कि अलग अलग व्यक्तियों को सफलता मिलने का समय, अलग अलग ही होगा।

प्रकृति हर नवजात शिशु को एक थकावट रहित शरीर देती है। उसके मन में उसके पिछले कर्मों के प्रारब्ध तो होंगे, लेकिन कम-से-कम इस जीवन की थकावट की छाप उसके शरीर पर नहीं होगी। तीन तरह की चेतना के साथ ही, मनुष्य का जन्म होता है। केवल सत्‌युग के समाज में, ऐसे ज्ञानी मिलते थे-जो अपने बच्चों को बचपन से ही 'अपना ज्ञान' पाने की शिक्षा का प्रबन्ध कर देते थे। बच्चे, अपने गुरुओं के साथ बाल काल में ही अपने मां बाप का घर छोड़कर चले जाते थे।

हमें, अपने को जानने की शिक्षा प्राप्त करनी है।
अपने नित्य के कर्मों से, कोई भी मुक्त नहीं है।

श्रीकृष्ण द्वारा (2.50) दर्शाया हुआ 'कर्म कौशल' भी हमें ऐसी शिक्षा की सलाह देता है-जिसमें दोनों-'पराजगत और इन्द्रिय जगत' के कर्मों का निवेश है। ऐसा जीवन, बालकों को अपने गुरु के यहां मिल जाता था। वे 25 वर्ष की आयु तक-ऐसे कर्मों में रहते थे। इस तरह वे, 'चौथी चेतना' को प्राप्त हो जाते थे-दूसरे शब्दों में (2.48) के अनुसार योग में पूर्णरूप से स्थित हो जाते थे। योग में स्थित होकर, गृहस्थ जीवन में प्रवेश हेतु-अपने घर वापस आ जाते थे।

गृहस्थ शब्द, अनेक तरह की क्रियाओं का प्रतीक है।

इस जीवन में मनुष्य थोड़े समय के लिए योग में स्थित रहकर, इन्द्रिय जगत के अलग अलग कार्यों में व्यस्त हो जाता था। कुछ देर के लिए वह 'योग में स्थित' होने के लिए कर्म (ध्यान) करता था।

अब यह कर्म, 'चौथी चेतना' में हो रहा है। जब वह चौथी चेतना में स्थित होकर इन्द्रिय जगत के अलग अलग विषयों में कर्म करेगा-तो उसे कुछ प्रयास तो करना ही पड़ेगा। लेकिन यह शिक्षा, इतने उच्च स्तर की है कि आयु बढ़ने के साथ साथ, वह योग में स्थित होकर इन्द्रिय जगत में कर्म करेगा। अत: इन्द्रिय जगत के कर्मों में प्रयास घटेगा।

यदि हम आज कलियुग के मनुष्यों के कर्मों की ओर दृष्टि ले जांय, तो हमें ज्ञात होगा कि ज्यों ज्यों मनुष्य की आयु बढ़ रही है-उसका जीवन अधिक प्रयासपूर्ण होता चला जा रहा है। जीवन को प्रयासरहित बनाने वाले कर्मों द्वारा मनुष्य, अपने इन्द्रिय जगत में पराशक्ति पिरोने में सिद्ध हो जाता था। जो अत्याधिक पूर्णरूप से पराशक्ति पिरो लेता था-वह 'पूर्ण पांचवीं चेतना' को प्राप्त हो जाता था। इस पांचवीं चेतना का फल, उसके जीवन की प्रयासहीनता थी।

फलस्वरूप, वह छठी चेतना में प्रवेश करता था- जिसे हम उस समय 'वानप्रस्थ की चेतना' के नाम से जानते थे। वानप्रस्थ की चेतना तक पहुंचते पहुंचते मनुष्यों के मन, बुद्धि और शरीर की 'बादल रूपी अत्याधिक थकावटें' निष्कासित हो जाती थीं। इस निष्कासन के फलस्वरूप, उसके जीवन को चलाने का उत्तरदायित्व 'छठे सुख' पर होता था। यह सुख 'इन्द्रियों से परे' होने के कारण- 'छठा सुख' कहलाता है।

इसे अधिकतर लोग 'आनन्द' के नाम से जानते हैं।

अब यह समझना कितना आसान है कि; जिसके जीवन में जितना 'शारीरिक कष्ट', 'बुद्धि की चिन्ता' और 'मन की परेशानी' है-वह उतना ही आनन्द से दूर है। इसके विपरीत जो अपने मन में जितना आनन्द, सत्कर्मों के माध्यम से पिरोने में सफल होता जा रहा है, वह उसी अनुपात में अपने 'शारीरिक कष्टों', 'बुद्धि के स्तर की चिन्ताओं' और 'मन के स्तर की परेशानियों' से दूर होता ही चला जायेगा। समाज का एक साधारण मनुष्य भी भली भांति जानता है कि बुद्धि के स्तर की सारी चिन्ताएं और मन के स्तर की सारी परेशानियां, मात्र हमारी अभिलाषाओं के पूर्ण न होने से होती हैं। यही हमें दर्शाता है कि हमारी छठी चेतना के प्रवेश तक, यदि हमारी सारी अभिलाषाएं पूरी नहीं होतीं-तो भी कम-से-कम उनके पूरे होने

का पूरा विश्वास तो अवश्य रहता था। मात्र यह विश्वस, जीवन को बहुत सुखदायी बना देता है।

मन के ऐसे विश्वास की अवस्था 'परा कर्मों' की देन है।

जीवन में ऐसे सुख का भोग, हमारे अपने कर्मों की देन है और हम जैसा करते हैं–वैसा फल जीवन में चखने को अवश्य मिलता है। ऐसा ही संत तुलसीदास की कहावतों में दर्शाया गया है। छठी चेतना के पूर्ण होने से पहले, अभिलाषाओं के पूरी होने के विश्वास में भले कुछ कमी रहे–

लेकिन इस विश्वास का अटल हो जाना कि समय आने पर हर इच्छा पूरी हो जायेगी-इस बात का चिह्न है कि उसकी छठी चेतना पूर्ण हो गई और अब वह 'सातवीं चेतना' में प्रवेश कर रहा है।

जितनी ऊंची चेना में, अपने को जानने का कर्म होगा। उससे ऊँची चेतना को हम प्राप्त हो जायेंगे। सातवीं चेतना में 'समय पर भी विजय' प्राप्त करने की शक्ति है। वह चेतना, जिसमें समय पर विजय प्राप्त करने की शक्ति है–'सातवीं चेतना' है और यह सन्यास की चेतना के नाम से जानी जाती थी। इस चेतना में प्रवेश करने के बाद मनुष्य, समय पर विजय पाता ही जाता था और 'सातवीं चेतना' पूर्ण होने के नजदीक पहुंचने तक उसकी हर अभिलाषा तत्काल पूरी होती थी। अब उसके पास 'मनुष्य की चेतना' नहीं है–उसकी 'मनुष्य की चेतना', पूर्ण रूप से 'दैवी चेतना' बन गयी है। इस चेतना में हर तरह की मुक्ति का प्रावधान है। ऐसी चेतना को प्राप्त होने वाला मनुष्य, अभिलाषाओं से भी मुक्त हो सकता है– शरीर से भी मुक्त हो सकता है और जीवन में रहते हुए, जीवन से मुक्त हो सकता है। अत: बिना जीवन के, 'जीवन मुक्ति' भी पा सकता है।

मानव कर्म की शक्ति

सृष्टि के हर कण द्वारा, कर्म होता है–यह प्रकृति का नियम है। लेकिन कर्म होने के लिए, चेतना आवश्यक है–अचेतन द्वारा, कर्म असंभव है।

लेकिन यह भी सत्य है कि कर्म द्वारा, चेतना की उत्पत्ति होती है।

सृष्टि में निर्जीव वस्तुएं और जीवित प्राणी मिलते हैं। निर्जीव वस्तुओं के द्वारा, कर्म कभी रुकता नहीं और उनके द्वारा जो कर्म होते हैं–वे उन निर्जीव वस्तुओं की चेतना बढ़ा नहीं पाते। इसीलिए वे निर्जीव कहलाते हैं।

जहां जीवन होता है, वहां कर्म का प्रभाव अलग अलग बदलाव के रूप में प्रतीत होता है। यही इस बात का प्रमाण है कि जहां जीवन है–वहां कर्म, चेतना बढ़ने और घटने, दोनों तरह का बदलाव लाता है। यही प्राणी कहलाते हैं।

प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है।

इसीलिए संत तुलसीदास ने कहा कि 'मनुष्य तन' तो केवल बहुत ही भाग्यवान जीवों को मिलता है। हम विस्तार से देखेंगे कि; 'मनुष्य तन' में विराजमान जीव के द्वारा; कर्मों की उपलब्धियां कहां तक सम्भव हैं?

तीन चेतनाएं, प्रकृति हर मनुष्य को प्रदान करती है–ये सुषुप्ति की चेतना, स्वप्न की चेतना और इन्द्रिय जगत की चेतना के नाम से जानी जाती हैं। जब व्यक्ति, तीसरी चेतना की अवस्था में आता है–तब वह इन्द्रियजगत के अलग अलग विषयों में स्थूल कर्मों के माध्यम से अपने को जागृत करता है और इस तरह से वह इन्द्रियजगत के किसी भी विषय का ज्ञान, अपनी इच्छानुसार प्राप्त करने की शक्ति रखता है।

मनुष्य में शक्ति है कि; वह सृष्टि के किसी भी तत्व का ज्ञान ले सके। लेकिन इन्द्रियजगत के किसी भी तत्व में यह शक्ति नहीं है कि वह अपने अन्दर होने वाले कर्मों के माध्यम से, किसी मनुष्य का ज्ञान प्राप्त कर सके–चाहे वे इन्द्रियजगत की निर्जीव वस्तुएं हों, या वनस्पतिजगत हो–या ठंडक, गर्मी, पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति, या इन्द्रियजगत की कोई भी दूसरी शक्ति हो। सारे जीवों में, मात्र मनुष्य दो तरह की चेतनाओं को अनुभव कर सकता है–

(1) एक इन्द्रियजगत के अलग अलग वस्तुओं या पहलुओं के ज्ञान से संबंधित चेतना और

(2) दूसरी अपने 'आन्तरिक जगत में स्थित' शक्तियों के ज्ञान से संबंधित चेतना–अत: मात्र सोने और स्वप्न की अवस्था में रहने के

पश्चात मनुष्य, कर्म के माध्यम से विषयों का ज्ञान या 'आन्तरिक ज्ञान' प्राप्त करने की अवस्था में हो जाता है।

अलग अलग ज्ञान की उत्पत्ति, अलग अलग चेतनाओं में होती है।

अत: जिस प्रकार का ज्ञान, मनुष्य को चाहिए-वैसी चेतना जागृत करने के कर्म में, उसे व्यस्त होना पड़ेगा। हर मनुष्य के जीवन की मूल मांग यह है कि; उसका मन कभी दुखी न हो। कलियुग में लाख में एक मनुष्य भी ऐसा नहीं मिलता, जो अपने मन की खुशियों को इन्द्रियजगत सम्बन्धी ज्ञान या उपलब्धियों में न देखे। ऐसे बहुत कम ज्ञानी हुए हैं, जिन्होंने यह कहा कि मात्र 'अपना ज्ञान' पाने के बाद-मनुष्य को किसी और ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस वाक्य के अर्थ को यदि हम समझें-तो इसका अर्थ यह निकलता है कि; शायद 'अपना ज्ञान' प्राप्त हो जाने के बाद कुछ और जानने की तड़पन ही समाप्त हो जायेगी-क्योंकि यह आज के अधिकतर मनुष्यों का अनुभव है कि जीवन के अंतिम क्षण तक, अधिकतर मनुष्यों में कुछ-न-कुछ पाने या जानने की जिज्ञासा अवश्य रहती है-या यह कहें कि अधिकतर लोग मात्र कुछ और (Extra) जानने और पाने की जिज्ञासा के साथ ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

विषयों का ज्ञान भी अनन्त है।
'आन्तरिक जगत का ज्ञान' भी अनन्त है।

महत्वपूर्ण बात तो यह है कि; विषयों की चेतना में अनन्त ज्ञान का प्रयोग करने की शक्ति नहीं है। विषयों का ज्ञान मनुष्य को, बुद्धि की चेतना और कर्मेन्द्रियों की चेतना की शक्ति के आधार पर प्राप्त होता है और इसका अनुभव जीवन में 'करनी' के रूप में होता है। यदि हम थोड़ी देर के लिए, अंधेरे में आंख बन्द करके एकान्त में बैठकर 'अन्दर की इन्द्रियों' के विषय मे सोचें-तो अपने आप हमें यह उत्तर मिलता है कि; 'अन्दर की दुनियां' में-शरीर को चलाने के लिए, अनन्त तरह की मशीनें लगी हुई हैं-वे अपने आप तो चलती हैं, लेकिन बुद्धि या कर्मेन्द्रिय के माध्यम से-चलायी नहीं जा सकतीं। मन में जो विचाार स्वेच्छा से उठते हैं-वे बुद्धि के अन्तर्गत होते हैं, लेकिन 'अन्दर' का आर्थ है-जो 'बुद्धि से परे' हो या इन्द्रियों से भी परे हो। जिसे हम-आंख से देख ना सकें, हाथ से छू न

सकें, पानी से भिगो न सकें, अग्नि से जला न सकें और तलवार से काट न सकें।

ऐसी दुनियां में सब कुछ, केवल होता है-किया कुछ भी नहीं जाता।

या हम यह कहें कि यह तो 'होनी' की दुनियां है। मनुष्य इन्द्रियजगत में भी, 'होनी' के माध्यम से बहुत बड़ी बड़ी अनुभूतियां-जीवन में प्राप्त करता रहता है। उदाहरण के लिए-भूचाल का आ जाना, अचानक मौसम का बदल जाना या समय के साथ साथ गंगा यमुना जैसी बड़ी बड़ी नदियों के बहाव के मार्ग का बदल जाना। ऐसे हम अनेक उदाहरण दे सकते हैं।

इन्हें देखकर इन्द्रियजगत की चेतना के मनुष्यों को भी आसानी से समझ में आ जाता है कि; 'होनी की शक्ति' तो करनी की शक्ति से लाखों गुना बड़ी है। होनी द्वारा कुछ अच्छा हो या बुरा, लेकिन क्रिया होती दिखती है-बिना ज्ञान के क्रिया असंभव है। 'होनी'-जो करना चाहती है-कर लेती है;

यह इस बात का प्रमाण है कि सृष्टि की बड़ी-से-बड़ी क्रिया का ज्ञान, 'होनी के क्षेत्र' में है। हम पहले ही देख और समझ चुके हैं कि; ज्ञान की उत्पत्ति केवल 'सम्बन्धित चेतना' में है। अत: यदि बड़ी-से-बड़ी क्रिया का ज्ञान, मनुष्य को चाहिए-तो वह 'आन्तरिक चेतना' जागृत करने का रास्ता पकड़ ले। इसका अर्थ है कि; मनुष्य कुछ समय के लिए 'इन्द्रियों के क्षेत्र' में कर्म न करे। मन, बिना बुद्धि और इन्द्रियों की मदद के 'होनी की दुनिया' में रहे। 'होनी की चेतना' मन में ही उभरनी है और अधिक-से-अधिक समय के लिए, नित्य अपने आपको जानने हेतु-या यह कहें कि 'अपनी चेतना' बढ़ाने हेतु अपने मन द्वारा, पराजगत में कर्म होने दे।

'होनी की दुनियां' ही पराजगत है।

यदि एक बच्चा, नित्य पांच छ: घंटे क्रिकेट खेलता है-अर्थात् उसका मन, क्रिकेट में रहता है-तो उसे फुटबाल की जागृति कैसे मिल सकती है? बिल्कुल इसी प्रकार से जब तक किसी का मन, नित्य काफी समय के लिए 'होनी के क्षेत्र' में रहने का अभ्यास (Meditation) काफी समय तक नहीं करेगा-तो वह अपने आप में कैसे जागेगा?

वह जितना अभ्यास करेगा-उतना ही अपने में जाग जायेगा।

ऊपर हमने देखा, बिना ज्ञान के-क्रिया सम्भव नहीं और बिना चेतना के, ज्ञान सम्भव नहीं है। 'चेतना' को मन में ही उभारना है और इच्छाएं भी, मन में ही उभरती हैं। इसीलिए शास्त्रों का ज्ञान भी हमें यह बताता है कि, हर मनुष्य की धारणाओं का-उसकी 'ध्यान और समाधि की अवस्था' से एक विशेष सम्बन्ध है।

ज्यों ज्यों मनुष्य के ध्यान का समय बढ़ेगा, समाधि का समय अपने आप बढ़ेगा और यह 'ध्यान और समाधि की अवस्थाएं' हमारे अन्दर अच्छी इच्छाओं को जन्म देंगी। अत: उन इच्छाओं को पूरा करने की शक्ति भी देगी। ज्यों ज्यों हमारी 'ध्यान और समाधि की अवस्था' बढ़ेगी, हमारा मन-धीरे धीरे 'होनी की शक्ति' से सामंजस्य प्राप्त करेगा। उसकी सारी इच्छाओं को 'करने की शक्ति' के बजाय, 'होनी की शक्ति' पूरा करेगी। इस दिशा में वह ज्यों ज्यों आगे बढ़ेगा-जीवन मात्र, प्रयासहीनता की ओर बढ़ेगा। आज का जीवन, हमें यह स्पष्ट रूप से बताता है-कि 'इन्द्रियजगत की चेतना' के स्तर पर इच्छाओं को पूरा करने के लिए, हमारा जीवन प्रयासपूर्ण हो जाता है।

ऐसा कोई मनुष्य हो ही नहीं सकता-जिसे प्रयास रुचिकर हो।

इसके विपरीत ज्यों ज्यों वह 'होनी की क्षेत्र की चेतना', अपने में उभारेगा-जीवन, प्रयासहीनता के साथ साथ-इन्द्रिय से परे के एक सुख के साथ अग्रसर होगा। ऐसे जीवन की कल्पना, 'इन्द्रिय चेतना वाला व्यक्ति कभी-कर ही नहीं सकता।

आन्तरिक चेतना; चौथी चेतना से शुरू होती है और; चौथी चेतना को केवल वह प्राप्त होगा-जो तीसरी चेतना की पूर्ण अवस्था के पराकर्म में 'अपने को व्यस्त' होने देगा। पराकर्म मात्र, पराजगत में होते है-ये कर्म मन के द्वारा होते हैं और मन; बुद्धि या किसी इन्द्रिय की मदद नहीं लेता। ऐसे कर्म के लम्बे अभ्यास (Meditation) के बाद एक समय आता है-जब हमें महसूस होता है कि; नित्य कुछ देर बैठने के बाद-उदाहरण के लिए 15-20 मिनट के बाद, ऐसा लगे-जैसे मन, 'शान्त अवस्था की चरम सीमा' को प्राप्त कर रहा है। ऐसे समय की अनुभूति होती है-जैसे मैं या मेरा मन, 'आन्तरिक जगत की सूक्ष्म पर्तों की ओर

अग्रसर' हो रहा है। सूक्ष्म पर्तों की ओर अग्रसर होना, अनेक विचारों से किसी एक विचार की ओर-या अधिकतम विचारों से थोड़े से विचारों की ओर 'मन के अग्रसर होने की अनुभूति' इस बात का प्रमाण है कि; हमारे 'मैं' में 'होनी के क्षेत्र की बुद्धि' धीरे धीरे पिरो रही है। जब तक 'होनी के क्षेत्र की बुद्धि', 'मैं' में नहीं पिरोती-तब तक ऐसा अनुभव नहीं होता। इस तरह का अनुभव, जीवात्मा के नजदीक विचरण-या जीवात्मा में विचरण को प्रमाणित करता है। कर्म, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता और कर्म ही, चेतना को जागृत करता है। ऐसी अवस्था में मात्र, 'परा कर्म' की संभावना है-इसलिए ध्यान की ऐसी अवस्था में जीवात्मा जागृत होने लगती है।

साधारण जीवन में हम जानते हैं कि; जब दो चीजों का मिलन होता है-तब तीसरी चीज की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिए चीनी और पानी मिलाकर, शर्बत बनाते हैं। रसायनिक ढंग से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का मिलन होने से, पानी बनता है और सोडियम और क्लोरीन के मिलन से, नमक बनता है। बिल्कुल इसी प्रकार से, पराजगत के सूक्ष्म क्षेत्र की बड़ी बड़ी शक्तियां-जो 'अध यात्मिक जगत' में देवी देवताओं के नाम से जानी जाती हैं, उन सारी शक्तियों के संग्रह से जीवात्मा की उत्पत्ति होती है। कहने का अर्थ है कि जीवात्मा में आन्तरिक जगत की सारी शक्तियों का संग्रह है। ऐसी जीवात्मा, हर मनुष्य के तन में है और ऐसी अनुभूति के बाद ही-

संत तुलसीदास ने यह लिखा होगा-'बड़े भाग मानुस तन पावा'।

महत्वपूर्ण बात यह है कि; मनुष्य अपने 'आत्म जागरण के माध्यम' से ब्रह्माण्ड की इन समस्त शक्तियों का प्रयोग-अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर सकता है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि बड़ी-से-बड़ी इच्छा की पूर्ति 'प्रयासहीन कर्मों' (Meditation) के माध्यम से हो सकती है। ऐसा केवल मनुष्य तन में, विराजमान जीव के लिए ही सम्भव है-ऐसा कैसे होता है? यह समझाने के लिए लेखक, महाभारत की एक घटना का विवरण देना चाहेगा-

एक बार अर्जुन अपनी पत्नी को चक्रव्यूह तोड़ना समझा रहे थे। जब तक चक्रव्यूह में घुसना बताया, तब तक उनकी पत्नी जागृत अवस्था में थी; उस समय

वह गर्भवती थीं और गर्भ में अभिमन्यु था। उनकी पत्नी के जागृत रहने के कारण, अभिमन्यु भी जागृत अवस्था में ही था और इसलिए उसने गर्भ में ही, 'चक्रव्यूह में घुसना' सीख लिया। जब अर्जुन ने चक्रव्यूह से निकलना बताना शुरू किया-तभी उनकी पत्नी को निद्रा आ गयी। उनके नींद आते ही अभिमन्यु को भी नींद आ गयी और वह 'चक्रव्यूह से बाहर निकलना' नहीं सीख पाया।

पुराण की यह घटना हमें बताती है कि; जब हम जागृत अवस्था में रहते हैं-तब हमारे शरीर में जो कुछ भी है, वह भी 'जागृत अवस्था' में ही रहेगा। मनुष्य की, जैसी जाग होगी-वैसी ही हमारे शरीर के अन्दर की सारी 'शक्तियों की जाग' होगी और शरीर में कार्य करने वाले सारे 'यंत्रों की जाग' होगी।

'आन्तरिक जगत की शक्तियां और यंत्र', हमारे शरीर के करोड़ों देवता हैं।

इसलिए अब साधकगण को यह समझना बहुत आसान होगा कि; जो व्यक्ति अपनी 'आन्तरिक चेतना' को उभारने का समय नहीं निकालते-वे समय बीतने के साथ साथ 'आन्तरिक चेतना' का पतन करते हैं। दूसरी शब्दों में उनके शरीर में विराजमान समस्त देवता, तुलनात्मक दृष्टि से आयु बढ़ने के साथ साथ सोने लगते हैं और धीरे धीरे मनुष्य खंडित स्वास्थ्य को प्राप्त होने लगता है।

'अखण्ड स्वास्थ्य' का अर्थ है-वह स्वास्थ्य, जो हमें 'अखण्ड शक्ति' प्रदान करे। 'अखण्ड की शक्ति', हमारी आन्तरिक जगत के सूक्ष्मतम पर्तों में हमारी आन्तरिक जाग के रूप में हर क्षण है। जैसी हमारे अन्दर की जाग होगी-वैसी ही 'अखण्ड की शक्ति', अन्दर के देवी देवताओं और शारीरिक यंत्रों को कार्यरत कर देगी और धीरे धीरे उम्र बढ़ने के साथ साथ मनुष्य अखण्ड स्वास्थ्य की ओर बढ़ने लगेगा। अब साधकगण को समझ में आ जाना चाहिये कि; जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों में 'आन्तरिक जगत की शक्ति' को पिरोने में सफल नहीं हुए हैं। उनके लिए स्थूल कर्मों द्वारा, 'देवी जागरण' करना असंभव है। हमें यह भी ज्ञात है कि; आज के युग में स्थूल और प्रयासपूर्ण कर्मों द्वारा-समाज में 'देवी जागरण' ज्यादा हो रहा है। इसीलिए जागरण में भाग लेने वाले व्यक्तियों के आन्तरिक जगत में स्थित देवी देवियां, जागृत होने की बजाय-कुछ ज्यादा ही सोने लगती हैं।

'देवी जागरण' और 'आत्म जागरण' के दर्शन को समझने के बाद, गीता

(3.11) की ओर अपना ध्यान ले जायें-जिस में स्पष्ट लिखा हुआ है कि; यज्ञ (ध्यान) द्वारा - हम अपने देवी देवताओं की उन्नति करें-तो वे हमारी उन्नति करेंगे और इस तरह से मनुष्य, जीवन के 'उच्चतम ध्येय' को प्राप्त करने में सफल होगा-श्लोक का यह शाब्दिक अर्थ है। लेखक समझाना चाहता है कि; यहां पर उस यज्ञ की बात कही जा रही है-जो 'पराजगत' में होता है। इस यज्ञ द्वारा केवल मानुष, 'तन में स्थित जीवात्मा'-अपने आन्तरिक जगत में स्थित देवी देवताओं को जागृत करके-उनकी उन्नति कर सकता है और यदि वह ऐसा करेगा, तो देवी देवता भी उसकी उन्नति के लिए -'होनी की शक्ति' के माध्यम से सब कुछ प्रदान करेंगे। मात्र जागृत अवस्था में देवियां, मनुष्य की भलाई के लिए ही सब कुछ करती हैं। ब्रह्माण्ड का एक संविधान है कि; जो 'अपने को जागृत' कर लेगा-वह अपने अन्दर के सारे देवी देवताओं को भी जागृत कर लेगा।

बाहर के समाज में हम, धन को सामग्री जुटाने के लिए व्यय करते हैं-यह 'इन्द्रिय जगत' का नियम है। धन भी, हर देश का अलग अलग है। इसी प्रकार से 'पराजगत का धन', इन्द्रिय जगत के धन से बिल्कुल ही अलग होता है-'परा चेतना' ही पराधन है। आन्तरिक खुशी (Bliss) ही परावस्तु है। इच्छाओं की पूर्ति, परावस्तुओं की प्राप्ति है। पराधन को ही, मीराबाई ने 'राम रतन धन' के नाम से समाज को संबोधित किया है। बिना इस धन के, 'आन्तरिक सुख' (Bliss) के भोग की बात-मन में लाने वाला व्यक्ति, उसी प्रकार से चोर है-जैसे बाहर की दुनियां में, बिना सांसारिक धन के समाज की किसी वस्तु की प्राप्ति की बात, मात्र चोर अपने मन में लाता है। इसीलिए गीता (3.12) द्वारा श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा कि जो मनुष्य, बिना देवताओं की उन्नति किये-उनके द्वारा दिये जाने वाले सुख के भोग की कामना करता है-वह चोर है। अपने शब्दों में लेखक कहेगा कि 'बिना पराचेतना को प्राप्त किये', यदि मनुष्य-अखण्ड स्वास्थ्य और अखण्ड सुख के चिन्ता मुक्ति, इत्यादि की कामना करता है-तो वह पराजगत के देवी देवताओं की दृष्टि में चोर के समान है। समाज का चोर कभी पकड़ा जाता है और; कभी नहीं भी पकड़ा जाता। लेकिन जो, 'परा शक्तियों' की दृष्टि में चोर है-वह 'प्राकृतिक दण्ड' से बच नहीं सकता और आयु बढ़ने के साथ साथ

शारीरिक कष्ट, बौद्धिक चिन्ताएं और मन की परेशानियों (Depression) का भोग-उसे दण्ड के रूप में भुगतना ही पड़ेगा।

पृथ्वी पर हम, 'वनस्पति जगत' की ओर अपना ध्यान ले जाएं-तो 'वनस्पति जगत', हमें जो कुछ भी देता है-वह 'इन्द्रिय जगत' में ही मिलता है, लेकिन 'देने वाला' इन्द्रियजगत में नहीं है। 'देने वाली शक्ति' इन्द्रियजगत की तुलना में 'सूक्ष्म क्षेत्र' में तो है, लेकिन इन्द्रियजगत की स्थूल पर्तों में नहीं है। इसी प्रकार से, हर प्राणी के जीवन में जो कुछ भी इन्द्रियजगत में है-चाहे वह वस्तु हो या परिस्थितियां-सुख दु:ख भोग का कारण, मात्र पराजगत में है ओर 'सुख दुख भोग' इन्द्रियजगत में है। **'वनस्पति जगत' में भी हम,** बीज और जड़ों के स्तर पर कर्म करते हैं, तभी 'वनस्पति जगत'-इन्द्रियजगत में हमें फल देते हैं। यहां लेखक फल, पेड़ के हर भाग को कह रहा है।

> **इसी प्रकार से हर साधक को समझ में आ जाना चाहिए कि; जब तक वह पराजगत में कर्म करके 'पेड़ रूपी इन्द्रियजगत' को संवारने का यत्न नहीं करेगा-तब तक उसका इन्द्रिय जगत संवरना, असंभव होगा।**

जीवन, अनन्त पहलुओं में बंटा हुआ है। बुद्धि में शक्ति होती है कि जीवन के किसी एक पहलू को समाज की दृष्टि में बहुत ऊपर उठा दे, लेकिन जीवन के अनन्त पहलुओं को उठाने की शक्ति, मात्र 'पराजगत' में होती है। 'पराजगत की शक्ति', परा चेतना के रूप में होती है। समझने के लिए, जब हम बीज और जमीन के स्तर पर कर्म करते हैं-तो बीज के गुणों की ओर भी ध्यान देते हैं और पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति की ओर भी ध्यान देते हैं। केवल तब, वनस्पति जगत में हमें, जो भी मिलता है-उससे हम संतुष्ट होते हैं।

इसी प्रकार से, पराजगत में जब हम पराकर्म करते हैं-तब हमारा मन, जो कि पराजगत की पृथ्वी होती है-उपजाऊ हो जाती है। ज्यों ज्यों पराकर्मों द्वारा, हमारे मन में उच्च स्तर की चेतना उभरती है-त्यों त्यों हमारे पराजगत की पृथ्वी और (Extra) उपजाऊ होती चली जाती है। पृथ्वी में ही बीज बोये जाते है। प्रकृति, मन में प्रारब्ध कर्मों के माध्यम से-बीज रूपी इच्छाएं उत्पन्न कर देती है। माली,

बाग में फूल के बीज तो लगाता ही है-लेकिन बाग की सुन्दरता इस पर निर्भर करती है कि; बाग में उपजाऊ जमीन और अच्छे बीज के कारण-चारों तरफ कितने अच्छे फूल और पत्तियां दिखती हैं? बिल्कुल इसी प्रकार से, 'प्रारब्ध कर्मों' के माध्यम से प्रकृति बीजरूपी इच्छाएं उत्पन्न कर देती है-लेकिन बागरूपी, उसका जीवन-कितना हरा भरा होता है? यह केवल इस पर निर्भर करता है कि; उसके जीवन की कितनी इच्छाएं, कितनी प्रयासहीनता के साथ पूरी होती चली जाती है?

लम्बी साधना के बाद मनुष्य, पराशक्तियों के योग में स्थित होकर-अपना गृहस्थ जीवन आरम्भ करता है-केवल तब उसका जीवन सफल होता है। आज के समाज में इसी की कमी है। वैदिक शिक्षा की कमी में, सत्कर्म के ज्ञान की कमी में और स्वधर्म की समझ की कमी में हमारे द्वारा, निम्न चेतना में कर्म हो रहे हैं। सत्कर्म की बजाय हम, सही और गलत कर्मों के दलदल में फंसते जा रहे हैं। पराशक्तियों का परिचय न होने के कारण, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के स्तर के कर्मों में अखण्डता ढूंढ़ने लगे हैं।

जो व्यक्ति इन्द्रियों में पराशक्ति पिरोने में सफल नहीं हुआ है-वह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के स्तर पर कर्म करके अपने जीवन को संतुष्टि की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। सत्युग में जब, वैदिक शिक्षा व्याप्त थी-तब हम योग में स्थित होकर-दूसरे शब्दों में पराशक्ति को इन्द्रियों में पिरोकर, गृहस्थ आश्रम के कर्म करते थे। यही कारण था कि, उस समय मनुष्य यह देखने में सक्षम था-कि जहां पेड़ के भाग हैं, वहां पेड़ को सब कुछ देने वाला नहीं है। इन्द्रियां, इस पांचवीं चेतना में कर्म करें-जिसमें यह शक्ति है, लेकिन आज के समाज के साधारण मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियों द्वारा-कर्म कराने वाली शक्ति, 'पांचवीं चेतना की शक्ति' न होकर-तीसरी चेतना की शक्ति है-इसीलिए मनुष्य, चाहे जितने अच्छे या खराब कर्म करे-निर्धन हो या धनी हो, दान करे या भजन करे, पढ़ा लिखा हो या अनपढ़ हो-तुलनात्मक दृष्टि से, सबके जीवन में दु:ख समय बीतने के साथ साथ बढ़ेगें और तीसरी चेतना का एक भी व्यक्ति, मन की संतुष्टि को प्राप्त नहीं होगा।

डॉ० शम्भूनाथ द्वारा प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 : जानने और मानने के दो अलग अलग रास्ते प्रत्यक्ष हैं-शिशु जानता नहीं है, वरन कहते कहते अमुक अमुक को माता पिता आदि मानने लगता है और वयस्क होने पर जानने लगता है। जान कर मानना, स्वत: सिद्ध है। मानने का आधार, जानना नहीं-अपितु दूसरों द्वारा कहलाते कहलाते है। ऐसे ही परमात्मा हैं-कहलाते कहलाते मान्यता दे दी गयी। विश्वास जटिल होने पर फल, तदनुकूल उपलब्ध है-अनेकों ऐसे दृष्टान्त हैं।

प्रश्न 2 : बुद्धि से नियन्त्रण हटाकर, मन का स्वच्छन्द स्फुरण तो निम्न ही होगा-क्योंकि इन्द्रियां प्रयत्नशील हैं और मन का बहाव उधर ही स्वभावत: रहेगा। क्या द्रष्टापन का भाव सार्थकता ला सकता है? जो भी स्वत: घटित हो रहा है-उसे ही विचारहीन होकर देखते रहा जाय। धीरे धीरे यह मान्यता दृढ़ हो जाय कि किसी भी स्थिति में जैसा अपने साथ व्यवहार चाहते हैं-वही दूसरों को प्रदान करते रहने का अभ्यास हो जाएगा। स्वाध्याय-अर्थात् 'आत्म निरीक्षण' होता रहेगा और कर्तव्यकर्म पर आधारित जीवन होगा-इन विचारों पर कृपया प्रकाश डालें।

उत्तर : बाहरी ज्ञान के दो रास्ते हैं-जानना और मानना। लेकिन 'ईश्वरीय शक्ति' की प्राप्ति के ये दो रास्ते नहीं हैं।

जानना और मानना तो, 'द्वैत जगत' की चीजें हैं-लेकिन ईश्वर और 'ईश्वरीय शक्ति' तो 'अद्वैत' है। द्वैत के माध्यम से अद्वैत को जानने की कोशिश, सरासर गलत है-यद्यपि ऐसी गलत बातें समाज में कुछ महात्माओं द्वारा भी लिखी जाने लगी हैं।

'ईश्वरीय शक्ति' को जानने का रास्ता-अर्थात् 'ब्रह्मज्ञान' का रास्ता तो मात्र 'ईश्वरीय शक्ति' को अनुभव करने की शक्ति बढ़ाना है। 'ईश्वरीय शक्ति' अन्दर है-द्वैत जगत में नहीं है, बुद्धि के जगत में भी नहीं है। इसलिए 'ईश्वरीय शक्ति' को महसूस करने के लिए, मन को 'अद्वैत जगत' में प्रवेश करना पड़ता है-दूसरे शब्दों में अन्तर्मुखी होना पड़ता है।

'ईश्वरीय शक्ति' की अनुभूति तो मन और 'ईश्वरीय शक्ति' के सम्पर्क में है- जानने और मानने के रास्ते पर, ऐसा कैसे सम्भव है?

जब मन, अन्तर्मुख होता है और 'ईश्वरीय शक्ति' से सम्पर्क करता है-तब मन में 'ईश्वरीय शक्ति' के गुण; सत्-चित्-आनन्द उभरने लगते हैं। मन में चित् का उभरना ही 'अनुभव की शक्ति' का बढ़ना है-या यह कहें कि; 'चेतना का विकास होना' है। 'चेतना का विकास', जानने और मानने के रास्ते पर होता ही नहीं-इस रास्ते पर 'बुद्धि का विकास' होता है।

'चेतना के विकास' का रास्ता ही,

'ईश्वरीय शक्ति' की प्राप्ति का रास्ता है।

आपने लिखा है कि प्रयासहीन होकर और बुद्धि का नियन्त्रण हटाकर, यदि मन को आजाद छोड़ दिया जायेगा-तो मन का बहाव, इन्द्रियों की ओर होगा-

जबकि सत्य यह है कि केवल 'इन्द्रियों के क्षेत्र' में बुद्धि है और 'बुद्धि के क्षेत्र' में इन्द्रियां हैं।

इन्द्रियों की ओर मन का भागना, इस बात का सूचक है कि मन-'बुद्धि के क्षेत्र' को छोड़ नहीं पाया है। इस बात को हम आपको और (Extra) अच्छी तरह समझाने का प्रयास करते हैं।

मन, पलभर के लिए भी विचार रहित नहीं होता।

लेकिन विचार दो तरह के होते हैं-

(1) एक, वे जो बेवकूफी के नहीं लगते-माने से भरे हुए होते हैं, उट पटांग नहीं होते-बेसिर पैर के नहीं होते। ऐसे विचार ही बुद्धि के जगत के विचार हैं।

(2) लेकिन दूसरे, जब मन-ऊट पटांग, उल्टे सीधे और अर्थहीन विचारों में विचरण करता है, उस समय जो भी विचार आते हैं-वे भी 'इन्द्रिय जगत' के विचार जैसे ही प्रतीत होते हैं, लेकिन 'इन्द्रिय जगत' के नहीं होते। इसलिए आपको यह गलतफहमी है कि; जब भी मन को छुट्टा छोड़ दिया जाएगा-तब मन, अपने स्वभाव से 'इन्द्रिय जगत की ओर भागेगा।

सत्य तो यह है कि मन, 'इन्द्रिय जगत' की ओर नहीं-
बल्कि संस्कारों की ओर भागता है।

ये संस्कार, हमेशा 'अन्दर के जगत' में ही होते हैं और 'ईश्वरीय शक्ति'-जो 'आन्तरिक सूर्य का प्रकाश' है; को इस तरह से ढक लेते हैं-जिस प्रकार से बाहर की दुनिया में बादल, सूर्य को ढक लेते हैं।

हमारे अन्दर के संस्कार, 'इन्द्रिय जगत' में रहते हुए-मन पर हुई प्रतिक्रियाओं की देन हैं। ये प्रतिक्रियाएं, 'बाह्य कर्मों' के समय-अन्दर समाती हैं और जब, समाती हैं-तब माने से भरी हुई और अकलमन्दी के विचारों के रूप में रहती हैं, लेकिन जैसे ही मन-'बुद्धि के नियन्त्रण' से परे होता है-जिसका आभास बेवकूफी और ऊट पटांग विचारों के रूप में ही होता है-उस समय अन्दर की सफाई हेतु, होता है-अर्थात् पिछले कर्मों द्वारा, समाए हुए प्रभावों (संस्कारों) को निकानले हेतु होता है-या यह कहें कि 'आन्तरिक सूर्य' को ढकने वाले बादलों का घनापन, कम होने में लग जाता है और धीरे धीरे, मन में 'ईश्वरीय शक्ति' उभरने लगती है-आनन्द उभरने लगता है और 'चेतना का विकास' होने लगता है। यही रास्ते की 'उच्च अवस्था'-अथवा 'प्रकृति पार की स्थिति' है और यही, 'प्रभु के साक्षात्कार' का रास्ता है-यही 'स्वाध्याय का रास्ता' है। ज्यों ज्यों मन में 'ईश्वरीय शक्ति' उभरती है-या यह कहें कि 'अद्वैत की शक्ति' उभरती है-मन, अपने आप-द्वैत के गुणों से परे होने लगता है; उचित अनुचित से परे होने लगता है और मान अपमान से भी परे होने लगता है। कहने का अर्थ यह है कि; वह जो करता है-वही उचित होता है, भले ही दूसरों की बुद्धि के स्तर पर-वह अनुचित हो। यही भगवान् कृष्ण का जीवन था।

ऐसे मनुष्यों के मन में दूसरों द्वारा, किसी खास तरह के व्यवहार की लालसा ही नहीं रहती। इसीलिए किसी खास तरह का व्यवहार, वह दूसरों के साथ करे-ऐसी बात भी, ऐसे व्यक्तियों के जीवन में नहीं रहती। ऐसा तो केवल उनके जीवन में रहता है-जो बौद्धिक स्तर पर किसी खास तरह की साधना समझ कर, करने लगते हैं। ऐसे साधक, मात्र 'द्वैत जगत' के साधक होते है और इसीलिए 'अद्वैत की शक्ति' पाने में असफल रहते हैं।

'अद्वैत की शक्ति' तो केवल अन्तर्मुख होने पर ही प्राप्त होगी। ❑

नोट : 1. ध्यान पत्रिका का वार्षिक शुल्क 50/- (पचास) रुपये मनी आर्डर अथवा कैश; अपने Address एवं Contact No. सहित इस पते पर भेजें :-

-श्री राकेश गर्ग, केशव लैस इम्पोरियम,
दुकान नं० 91, लाजपतराय (रेहड़ी) मार्केट, हिसार-125001
मोबाईल : 098967-89678

2. प्रत्येक रविवार को बुधला सन्त मन्दिर, नज़दीक बस स्टैण्ड, हिसार के जपकक्ष में प्रातः 11.00 बजे से 12.30 बजे एवं प्रतिदिन सायं 3 से 4 बजे सामुहिक ध्यान प्रयोगात्मक (Practical) और उसी मन्दिर में प्रति रविवार पारिवारिक ध्यान सत्संग सायं 5 बजे से सायं 7 बजे तक होता है। आप सभी सपरिवार सादर आमन्त्रित हैं।

3. ध्यान (Meditation or Self Realization) सम्बन्धी अपने अनुभव, लेख, आलोचना (Comments), अनुभूतियां, प्रश्नोत्तर, शंका-समाधान इत्यादि इस पते पर भेज सकते हैं:-

-सुरेश कुमार गुप्ता
1618, अर्बन स्टेट-2, हिसार-125005
E-mail : sureshgupta1936@gmail.com

PRINTED MATTER